इकाई -19

महाभाष्य- पस्पशान्हिक

इकाई की रुपरेखा

19.0 उद्देश्य

हम एम० ए० संस्कृत उत्तरार्द्ध के चतुर्थ पाठ्यक्रम भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण (MASA-04) की इकाई संख्या 19 का अध्ययन करने जा रहें हैं। उक्त इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हम निम्नलिखित तथ्यों का *ज्ञान कर पायेंगें* –

- व्याकरण शास्त्र की दीर्घ परम्परा का ज्ञान।
- शब्द किसे कहते है ? शब्द के सन्दर्भ में विविध मत क्या है ? इसका ज्ञान।
- शब्द तथा अर्थ दोनों के मध्य नित्य अनित्य अथवा संयोग किस तरह का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का ज्ञान।
- व्याकरण किसे कहते है तथा व्याकरण का अध्ययन क्यों किया जाए ? इस परिभाषा एवं उद्देश्य का ज्ञान।
- यदि हम विशुद्ध (साधु) शब्द का प्रयोग करेंगें तो इसका क्या परिणाम होगा ? इस तथ्य का ज्ञान।
- किस प्रकार सूत्र, वार्तिक, भाष्य, टीका, उपटीकाओं के रूप में व्याकरणशास्त्र अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है ? इस पद्धति का ज्ञान।

19.1 प्रस्तावना

"मुखं व्याकरणं स्मृतम्" व्याकरण वेदपुरूष का मुख है। व्यक्रियन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अननेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्- जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसको 'व्याकरण' कहते है। इसी का दूसरा नाम ''शब्दानुशासनं भी है। व्याकरणशास्त्र के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा ने बृहस्पति को तथा बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण का उपदेश दिया। पाणिनि से पूर्व अपिशलि, कश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन- ये दस व्याकरणाचार्य है। पाणिनिकृत व्याकरण सुप्रसिद्ध है। पाणिनि-व्याकरण का स्वरूप पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि- इन मुनित्रय द्वारा सुनिश्चित हुआ है। महाभाष्य महर्षि पतंजलि द्वारा रचित है। पतंजति ने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' के कुछ चुने हुए सूत्रों पर भाष्य लिखा था, जिसे 'व्याकरण महाभाष्य' का नाम दिया गया। 'महाभाष्य' वैसे तो व्याकरण का ग्रंथ माना जाता है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं राजाओं-महाराजाओं एवं जनतंत्रों के घटनाचक्र का विवरण भी मिलता हैं। **महाभाष्य** के वर्णन से पता चलता है कि पुष्यमित्र ने किसी ऐसे विशाल यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें अनेक पुरोहित थे और जिनमें पतंजलि भी शामिल थे। वे स्वयं ब्राह्मण याजक थे और इसी कारण से उन्होंने क्षत्रिय याजक पर कटाक्ष किया है- यदि भवद्विध: क्षत्रियं याजयेत्।[2]पुष्यमित्रों यजते, याजका: याजयति। तत्र भवितव्यम् पुष्यमित्रो याजयते, याजका: याजयंतीति यज्वादिषु चाविपर्यासो वक्तव्य:। इससे पता चलता है कि पतंजलि का आभिर्भाव कालिदास के पूर्व व पुष्यमित्र के राज्य काल में हुआ था। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार पुष्यमित्र ने 36 वर्षों तक राज्य किया था। पुष्यमित्र के सिंहासन पर बैठने का समय 185 ई. पू. है और 36 वर्ष कम कर देने पर उसके शासन की सीमा 149 ई. पू. निश्चित होती है। गोल्डस्टुकर ने महाभाष्य का काल 140 से 120 ई. पू. माना है। डॉक्टर भांडारकर के अनुसार पतंजलि का समय 158 ई. पू. के लगभग है, पर प्रोफ़ेसर वेबर के अनुसार इनका समय कनिष्क के बाद, अर्थात् ई. पू. 25 वर्ष होना चाहिए। डॉक्टर भांडारकर ने प्रोफ़ेसर वेबर के इस कथन का खंडन कर दिया है। बोथलिंक के मतानुसार पंतजलि का समय 2000 ई. पू. हैइस मत का समर्थन मेक्समूलर ने भी किया है। कीथ के अनुसार पतंजलि का समय 140-150 ई. पू. है। बहुसंख्य भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पतंजलि का समय 150 ई. पू. है, पर युधिष्ठिर मीमांसकजी ने ज़ोर देकर बताया है कि पतंजलि विक्रम संवत से दो हज़ार वर्ष पूर्व हुए थे। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, पर अंत:साक्ष्य के आधार पर इनका समय निरूपण कोई कठिन कार्य नहीं है। यहाँ पतंजलिकृत 'महाभाष्य' के पस्पशान्हिक से शब्द की परिभाषा, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, व्याकरण के अध्ययन के उद्देश्य, व्याकरण की परिभाषा, साधु शब्द के प्रयोग का परिणाम और व्याकरण की पद्धति वर्णित है।

19.2 शब्द की परिभाषा

'शब्दयते इति शब्दः' - 'शब्द' धातु से घञ् प्रत्यय होकर 'शब्द' रूप निस्पन्न हुआ है। 'शब्द' का प्रयोग अनेक रूपों में हुआ है। 'शब्द' ही एक ऐसा तत्व है जो समस्त् जगत् को एकात्मकता के सूत्र में बांधे हुए है। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्दका अनुशासन ही व्याकरण का विषय कहा है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ में अभेद रूप व्यवहृत होता है। जैसे-

'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः'- यहाँ गौ के शब्द-निर्णय के प्रसंग में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'गौः' इस ज्ञान में शब्द किसे कहा जाय? प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि 'अयं गौः' =यह गौ है- इस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय-व्यक्ति, गुण, क्रिया और स्वयं गौ (जाति) ये चारों होते है। इन चारों में शब्द किसे कहा जाय?

प्रश्न का उपपादन करने वाला 'गौ' ज्ञान में विषय रूप से आने वाले व्यक्ति आदि का क्रमशः निर्देश करता हुआ पुनः प्रश्न करता है-किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः' अर्थात् जो गलकम्बल, पूँछ, ककुद (डील), खुर और सींग से युक्त जो पदार्थ अर्थात् पशु व्यक्ति है , क्या वहीं शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है-नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। शब्द नहीं, वह तो द्रव्य है।

इस पर प्रश्न करने वाला पुनः पूछता कि यदि गलकम्बलादिमान् पदार्थ शब्द न होकर द्रव्य है तो 'तदिडितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः' अर्थात् उस शक्ति का अपने शरीर-व्यापार द्वारा अभिप्रायों का संकेत करना, चलना-फिरना, आँखों का व्यापार आदि शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है- नेत्याह। क्रिया नाम-सा। नहीं, यह तो क्रिया-व्यापार है।

इस पर प्रश्नकर्ता पुनः करता है कि यदि उस गौ व्यक्ति के अभिप्राय-संकेतादि क्रिया व्यापार है तब उस गौ व्यक्ति का जो शुक्लत्व, नीलत्व, कृष्णत्व, कपिलत्व और कपोतत्व आदि वर्ण है, क्या वह शब्द है। ' यत्तहिं तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'नेत्याह। गुणों नाम सः।' गौ व्यक्ति के शुक्लत्व नीलत्व आदि शब्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोत्र से इतर चक्षु इन्द्रिय से वैद्य हैं अतः वह शब्द न होकर गुण रूप ही है।

इस पर प्रश्नकर्ता पुनः पूछता है कि उस गौ व्यक्ति के नील शुक्ल आदि शब्द न होकर गुण है - यत्तहिं तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं, स शब्दः- अर्थात् उस गौ व्यक्ति का सभी गौवों में सदा रहने वाला एकमात्र गोत्व, जो कि अलग-अलग गौ व्यक्तियों में सामान्य रूप से देखा जाता है, तथा छिन्न-भिन्न होने पर भी जो स्वयं अच्छिन्न रहता है, वह सामान्य ही शब्द है? इस पर सिद्धान्ती कहता है नही, वह तो आकृति (जाति) है- 'नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।

तो फिर शब्द किसको कहा जाय? 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः अर्थात् जिसके उच्चारित किये जाने पर गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर और सींग वाले पशुव्यक्ति का ज्ञान होता है, वहीं 'शब्द'। सिद्धान्ती द्वितीय समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इच्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरू, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्वमुच्यते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः'। अर्थात् लोक व्यवहार करने वालों में पदार्थ के बोधक रूप से प्रसिद्ध वर्णरूप जो ध्वनि समुदाय है, वहीं 'षब्द' है। जैसा कि ध्वनि करते हुए लड़के को उद्देश्य करके कहा जाता है-शब्द करो, शब्द मत करो, वह लड़का बारम्बार शब्द को करने वाला है। अतः वर्णोच्चारण रूप ध्वनि ही शब्द है।

19.3 वर्णोपदेश का प्रयोजन

अब यह विचार्य है कि वर्णो का उपदेश किस लिए किया गया है । 'किमर्था वर्णानामुपदेशः'। क्योंकि व्याकरण का उद्देश्य वर्णो के साधुत्व का प्रतिपादन करना है। परन्तु वर्णोपदेश से किसी भी शब्द का साधुत्व प्रतिपादित नहीं होता। अतएव अइउण् आदि चौदह माहेश्वर सूत्रों का उपदेश किस लिए

किया गया, यह प्रश्न उपस्थित किया गया है। भाष्यकार ने वर्णोपदेश के तीन प्रयोजन उपस्थापित किये है-

(1) वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः (2) अनुबन्धकरणार्थः (3) इष्टबुद्ध्यर्थः।

(1) इसमें से प्रथम प्रयोजन 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः' का अर्थ है- 'वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः'। वृत्त्यर्थो या समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः। अर्थात् वृत्ति समवाय के लिए वर्णो का उपदेश किया जाता है। 'वृत्तिसमवाय' का अर्थ है- वृत्ति के लिए समवाय, अथवा जिसका फल वृत्ति है वह समवाय अथवा जिसका प्रयोजन वृत्ति है वह समवाय।

'वृत्तये समवायः' से तात्पर्य है कि ' लाघवेन शास्त्रवृत्तये' अर्थात् लाघव से शास्त्र में रूचि-प्रवृत्ति हो सके, यहीं वर्ण समाम्नास का प्रयोजन है। वर्ण-समाम्नाय करने पर अच् आदि संज्ञाओं की प्राप्ति हो सकेगी- तत्श्च लाघवेन शब्दानुशासनम्।

द्वितीय विग्रह- 'वृत्त्यर्थो वा समवायः' का अभिप्राय है कि इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर य्, व्, र्, ल् हों- ऐसा विस्तृत वर्णन के स्थान पर लघु रूप में ' इको यणचि ' कहने मात्र से शास्त्र-प्रवृत्ति हो सकती है। अतः यह द्वितीय विग्रह उपस्थित किया गया है।

तृतीय विग्रह- 'वृत्तिप्रयोजनो वा समवायः' का तात्पर्य है कि ' ण्' आदि की इत् संज्ञा करके प्रत्याहारों की सिद्धि की जाती है अतः यह भी लाघव से शास्त्रप्रवृत्ति के लिए उपयोगी है।

संक्षेप में प्रकृत वार्तिक 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः' का तात्पर्य है कि शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए वर्णो का एक क्रम से उच्चारण किया जाता है। यह वर्णापदेश का प्रथम प्रयोजन है।

(2) वर्णोपदेश का द्वितीय प्रयोजन है - 'अनुबन्धकरणार्थश्र' अर्थात् अनुबन्ध लगाने के लिए वर्णो का उपदेश करना चाहिए क्योंकि आचार्य का निश्चय है कि मैं अनुबन्ध लगाऊँगा। परन्तु बिना वर्णो का उपदेश किये अनुबन्धों का लगाना सम्भव नहीं, क्योंकि अनुबन्धों के लगाने में वणों का पहले उच्चारण किया जाना नितान्त आवश्यक है। अ, इ, उ, के उपदेश किये जाने पर ही उसके आगे 'ण्' रूप चिन्ह लगाना सम्भव रहता अन्यथा असम्भव ही था। अतः जो यह वर्णो का उपदेश है, सो एक तो शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए किसी विशेष क्रम से वर्णो के ज्ञानार्थ है, द्वितीय अनुबन्धों के लगाने के लिए है। शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए जो समवाय और अनुबंधों का लगाना है। सो दोनों बातें प्रत्याहार के लिए उपयोगी होती है। प्रत्याहारवृत्ति अर्थात् शास्त्रों की प्रवृत्ति के लिए है-

अनुबन्धकरणार्थश्र वणानामुपदेशः- अनुबन्धानासङ्क्ष्यामिति। नह्यनुपदिष्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुदेशो वृत्तिसमवायार्थश्रानुबन्धकरणार्थश्र। वृत्तिसमवायश्रानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्। प्रत्याहारो वृत्यर्थः।

(3) इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः - ' इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे इति। नह्यनुपदिष्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम्।।

वैयाकरणों को जैसा वर्णोच्चारण अभिलषित है वैसे ही उच्चारण वाले वर्णो के बोधन के लिए भी वर्णो का उपदेश किया जाता है। आचार्य का निश्चय है कि हम इष्ट वर्णो का ज्ञान सभी जिज्ञासुओं को करा देगें। और बिना वर्णो के उपदेश के इष्ट वर्णो का ज्ञान संभव नहीं। अतः इष्ट-बोधन के लिए वर्णो का उपदेश किया गया है। इस पर आक्षेप करते हुए कहते है कि इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुता नाप्युपदेशः । पूर्वपक्षी का कहना है कि वर्णोपदेश में केवल ह्स्व अचों का ही उपदेश किया गया है। परन्तु इष्ट वर्णो के साथ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित अनुनासिक, दीर्घ एवं प्लुत वर्णो का भी उपदेश करना चाहिए, क्योकि इन गुणों वाले वर्णो का भी संग्रह किया गया है।

महर्षि पतंजलि ने इसके समाधानार्थ वार्तिक को प्रस्तुत किया- 'आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' अर्थात् अ वर्ण के द्वारा उपदेश के अवर्ण में रहने वाली जाति का उपदेश किया गया है। अतः अत्व जाति के उपदेश होने से अ वर्ण के सभी 18 प्रकार के 'अ' वर्णो का ग्रहण =उपदेश हो जाएगा। इसी प्रकार ई वर्ण की आकृति से सभी प्रकार के ई तथा उत्व जाति के उपदेश से सभी प्रकार के उ वर्णों का उपदेश हो जायेगा।

19.4 शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यदि नित्य और लौक प्रसिद्ध है तो शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ ही है, और यदि वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं है तो शास्त्र का अनुशासन हो ही नही सकता है। अतएव यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि शब्दानुशासन किस अभिप्राय को लेकर प्रवृत्त हुआ है, अर्थात् शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानकर लिखा गया है?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पतंजलि कहते है- 'सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।' अर्थात् शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को नित्य मानकर शब्दानुशासन प्रवृत्त हुआ है। उपर्युक्त वार्तिक में 'सिद्ध' शब्द का क्या अर्थ है- अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः'। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते है कि - 'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।। कथं ज्ञायते? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते।'यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है, क्योकि यह प्रायः अविनाशी तथा नित्य अवस्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। जाति-स्फोट अथवा व्यक्ति-स्फोट रूप शब्द नित्य है। यथा- सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति =स्वर्ग सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध (नित्य) है, आकाश सिद्ध है।

इस पर प्रतिपक्षी आक्षेप होता है कि 'ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा-सिद्ध ओदनः, सिद्ध सूपः, सिद्धा यवागूरिति।' अर्थात् सिद्ध शब्द का प्रयोग तो अनित्य वस्तुओं के साथ भी होता है। यथा- चावल सिद्ध शब्द का प्रयोग तो अनित्य वस्तुओं के साथ भी होता है। यथा- चावल सिद्ध है, दाल सिद्ध है, यवागु (खिचड़ी) सिद्ध है। अतः कार्य (पदार्थो) में यदि सिद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है, तब नित्य शब्द के ही पर्याय रूप में सिद्ध शब्द का ग्रहण क्यों माना जाय? कार्य अर्थ में जो (यवागु आदि) सिद्ध शब्द है, उसी का ग्रहण क्यों न माना जाय? इसके लिए कुछ समाधान दिये गये है-

प्रथम हेतु - संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यापवाचिनो ग्रहणमिति। क्योकि व्याडि कृत संग्रहग्रंथ में 'कार्य' अर्थ से विपरीत अर्थ के बोधन के लिए 'सिद्ध' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण हम ऐसा मानते है कि वहाँ 'नित्य' के अर्थ में ही 'सिद्ध' शब्द का ग्रहण किया गया है।

द्वितीय हेतु-'अथवा सन्त्येकपदान्यत्यवधारणानि।' अथवा कहीं-कहीं केवल एक ही पद के रखने पर भी निश्चय अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यथा- 'अब्भक्षो वायुभक्ष' अर्थात्- पानी ही पीता है, केवल वायु ही का भक्षण करता है। इसी प्रकार यहाँ भी सिद्ध शब्द से जो सिद्ध है, साध्य नही, उसी का ग्रहण होता है।

तृतीय हेतु -'अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः'। 'सिद्धे' इस पद में पूर्वपद का लोप मानना चाहिए। यहाँ वस्तुतः अत्यन्त सिद्ध को 'सिद्ध' उसी प्रकार कहते है जिस प्रकार देवदत्त के स्थान पर 'दत्त' तथा सत्यभामा के स्थान पर 'भामा' का प्रयोग होता है।

चतुर्थ हेतु-'व्याख्यानतो विषेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्'। अर्थात् अर्थ करते समय 'अमुक' अर्थ लिया जाय कि अमुक अर्थ' .... इस प्रकार के तात्पर्य- सन्देह उपस्थित होने पर आचार्या द्वारा किये गये विशेष अर्थ के बोधन कराने वाले विवरणों से अर्थ का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार के शब्दों का व्याख्यान करके उनके विशिष्ट और प्रासंगिक अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। सन्देह मात्र के ही उत्पन्न होने पर कोई लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता । प्रमाणान्तर से उसके विशिष्ट अर्थ का विनिश्चय करना चाहिए।

शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता बतलाने के उपरान्त भाष्यकार ने प्रश्नकर्ता की ओर से प्रश्न उपस्थित किया कि 'शब्द का सम्यग्ज्ञान अभ्युदयकारक है अथवा सम्यक् प्रयोग । इनमें से यदि ज्ञान पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो साधु शब्द के ज्ञान से अधर्म की प्राप्ति होनी चाहिए और इससे बहुत अधिक अधर्म होने लगा । क्योंकि असाधु शब्द बहुत अधिक है और साधु शब्द थोड़े। एक-एक साधु शब्द के बहुत से असाधु शब्द संभव है। यथा- ' गौ' इस साधु शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैऔर पुनः - ' तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभुवुः ' - के रूप में श्रुति भी शब्द के प्रयोग में ही धर्म प्राप्ति की बात स्वीकार करती है। इस प्रकार ज्ञान मात्र से धर्म प्राप्ति की बात वेद विरूद्ध भी है। अतः शब्द के ज्ञान मात्र से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति सभ्भव नहीं हो सकती। तो फिर प्रयोग से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति हो सकती है। शब्द प्रयोग से धर्म प्राप्ति यदि सम्भव हो तो सभी प्रयोग मात्र से अभ्युदय से युक्त हो जावेंगे, भले ही उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया हो या नही। ऐसी परिस्थिति में वैयाकरण और अवैयाकरण दोनों के द्वारा किये गये प्रयोग समान रूप से फलवान् होंगे। कुछ लोग व्यवहार में प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में प्रयोग में प्रौढ़ नहीं हो पाते, अन्य लोग व्याकरण का अध्ययन किये बिना ही व्यवहार से शब्द ज्ञान करके उनके प्रयोग में अधिक कुशल हो जाते है। प्रयोग पक्ष में भी धर्म प्राप्ति की बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रश्न के समाधानार्थ भाष्यकार कहते है-

'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन'- अर्थात् वेद के शब्द के समान शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय है। शास्त्रज्ञानपूर्वक जो शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। 'तत्तुल्यं वेदशब्देनेति' का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वेद शब्द नियमपूर्वक अध्ययन किये गये फलवान्

होते है, उसी प्रकार से जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। वेद का अध्ययन भी ज्ञानपूर्वक ही करने का विधान है-

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयांजायते तु सः।।

अथवा फिर ऐसा हो कि 'शब्द के ज्ञान में ही धर्म है-'अथवा पुनरस्तु-ज्ञान एव धर्म इति। अभी जो कहा गया कि यदि ज्ञान में धर्म है तो अपशब्द के ज्ञान से अधर्म भी है। वस्तुतः यह दोष नहीं है, अपितु अपशब्द ज्ञान शब्द ज्ञान में उपाय ही है। क्योंकि जिसे अपशब्द विषयक ज्ञान है, उसे ही साधु विषयक ज्ञान भी है। तो इस प्रकार ' ज्ञान से धर्म होता है' ऐसा कहने वाले को अर्थतः यह प्राप्त हो जाता है कि अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्द ज्ञान से धर्म होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को महाभाष्यकार कूपखानक न्याय का उदाहरण देकर प्रतिपादित करते है कि जिस प्रकार कुआँ खोदने वाला कुआँ खोदता हुआ यद्यपि कीचड़ और धूल से ढक जाता है फिर भी वह कुएँ में, जल निकल आने पर उसी जल से स्नान करके पुनः निर्मल हो जाता है और उससे उसका वह मलिनता रूप दोष पूर्णतया दूर कर दिया जाता है। साथ ही उसे बहुत अधिक पुण्य भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार से यहाँ भी यद्यपि अपशब्द के योग होता है। पुनः प्रश्न होता है कि यह कैसे ज्ञात हो कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है? तो उत्तर है कि यह सम्बन्ध लोकव्यवहार से जाना जाता है।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।

'शास्त्र लोक से अनुप्राणित होता है अथवा लोक शास्त्र से अनुशिष्ट'- इसी प्रश्न को प्रकट करके महाभाष्यकार ने उत्तर दिया कि शब्द, अर्थ और उसके संबंध की नित्यता का प्रमाण लोक व्यवहार है। क्योकि लोक में अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर ही प्रयोग करने वाले शब्दों का प्रयोग करते है, वे इन शब्दों की निष्पत्ति के निमित्त से कोई यत्न नहीं करते। अतः लोक प्रधान है, शास्त्र गौण। इसकी सिद्धि के लिए महाभाष्यकार एक आख्यान प्रस्तुत करते है कि कुम्भ को चाहने वाला व्यक्ति जिस प्रकार कुम्भकार के पास जाकर कुम्भ = घट को ले आता है, उसी प्रकार शब्द को चाहने वाला वैयाकरणों के कुल में जाकर शब्दों के निर्माण की याचना नहीं करता अपितु वह अपनी इच्छा से लोक में प्रचलित शब्दों का ग्रहण करके प्रयोग करने लगता है। भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत को प्रकट करते है कि-

'यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं, किं शास्त्रेण क्रियते?' अर्थात्- यदि शब्द की नित्यता मे लोक प्रमाण है तो शास्त्र की क्या उपयोगिता? क्योंकि लोक ही जब सर्वोपरि है, जो वह करेगा वहीं उचित एवं प्रामाणिक माना जायेगा, तो इतने बड़े व्याकरण-शास्त्र की क्या प्रासंगिकता है? पूर्वपक्षी की इस शंका के समाधानार्थ यह वार्तिक प्रस्तुत करते है-

धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः।

1. धर्माय नियमः- यद्यपि लोक से अर्थो एवं शब्दों का ज्ञान हो जाता है, तथापि लोक में साधु एवं असाधु दोनों प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः व्याकरण शास्त्र धर्म के लिए साधु शब्दों का नियमन करता है और अधर्म से रक्षा के लिए असाधु शब्दों का प्रतिषेध। इसलिए शास्त्र धर्म के लिए नियम करता है।

2. धर्मार्थो नियमः- अर्थात् यज्ञ में असाधु शब्दों का प्रयोग न हो क्योकि उस यज्ञ में 'नानृतं वदेत' इस वेदवाक्य के अनुसार वैगुण्य होना माना गया है अतः जो साधु निर्माण रूपी जो नियम है, वह धर्मः यज्ञादि के लिए है। अतः यह शास्त्र- नियम धर्मार्थ है।

3. धर्म प्रयोजनों नियमः- धर्म के प्रयोजन के लिए नियम। अर्थात् धर्म के प्रयोजन से कहा गया नियम, क्योकि साधु शब्द के प्रयोग से पुण्य होता है। 'एकः शब्द सम्यक् ज्ञातः........ के अनुसार तो व्याकरण के नियम से साधु शब्दों का ज्ञान होगा तथा उसका प्रयोग करने पर पुण्य भी मिलेगा। इसी प्रकार य़द्यपि शब्द एवं अपशब्द दोनों से ही अर्थ का अभिधान हो सकता है, तदापि व्याकरणशास्त्र इस प्रकार से धर्मनियम करता है कि साधु शब्दों से ही अर्थ का कथन हो, असाधु शब्दों से नही।

19.5 व्याकरण के अध्ययन के उद्देश्य

व्याकरण के अध्ययन के क्या प्रयोजन (हेतु अथवा लाभ) है? इस प्रश्न का उत्तर है कि 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् अर्थात् वेदों की रक्षा, ऊह = विभक्तियों के परिवर्तनादि, आगम = विधायक शास्त्र, लाघव = सुगमता तथा संदेहनिवृत्ति- ये ही शब्दशास्त्र के अध्ययन के प्रयोजन है।

(1) रक्षा- रक्षार्थ वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति। अर्थात् वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । क्योंकि जिस व्यक्ति को लोप, आगम और वर्णो के विकारों का ज्ञान है, वह वेदों की रक्षा ठीक प्रकार से कर सकता है। भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर जब वह वेद में उन्हे देखेगा तो वह भ्रान्त हो जायेगा और लोक का अनुसरण करके वैदिक शब्दों को भी लोकवत् पढ़ने की चेष्टा करेगा। यथा-देवा अदुह्र- यहाँ 'र्' का आगम 'त' के स्थान पर हुआ है। लोक में 'अदुहत' ऐसा प्रयोग होता है तथा 'मध्या कर्तोर्विततं संजभार- यहाँ 'ह्' के स्थान पर 'भ्' आदेश हुआ है। लोक में 'संजहार' रूप प्रसिद्ध है। प्रदीप वृत्ति में कैयट लिखते है- ''लोके लोपाद्यदृष्टं वेदे दृष्टवा भ्राम्ये अवैयाकरणः। वैयाकरणस्तु न भ्राम्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति।''

(2) ऊह- ऊहः खल्वपि । न सर्वैलिंडैर्नच सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मंत्रा निगदिताः। ऊह अर्थात् विभक्तियों का विपरिणाम भी शब्दशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। क्योकि वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्द सभी लिंग एवं विभक्तियों में नहीं है। जबकि यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरूष को उन मंत्रों में यथोचित लिंगों तथा विभक्तियों में बदलना होता है। परन्तु व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से नहीं बदल सकता। एतदर्थं व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। यथा- देवीरापः शुद्धाः स्थ में स्त्रीलिंग- शुद्धाः के स्थान पर देवाऽऽज्य शुद्धमसि इस मंत्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होने के कारण 'शुद्धम्' इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम होगा।

(3) आगम-आगमः खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षड्गों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। अर्थात् निश्चय वेद भी व्याकरण के अध्ययन का कारण है। ' ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) की अपेक्षा किये छः अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष) से युक्त वेद को पढ़ाना चाहिए और आत्मसात् करना चाहिए ।ऐसी श्रुति की आज्ञा

है। वेद के उन छः अंगों में व्याकरण-शास्त्र प्रधान अंग है। अतः प्रधान में किया गया प्रयत्न फलदायक होता है। अतः शब्दशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(4) लाघव-लघ्वर्थ चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। अर्थात् शब्दों के ज्ञान में सुगमता के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए तथा ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। व्याकरण को छोड़ और किसी लघु उपाय से शब्द जाने नहीं जा सकते। यथा- राम के प्रकृति प्रत्ययादि का ज्ञान होने पर बालक आदि सभी तत्सदृश शब्दों का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। अतः लाघव के लिए शब्द-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(5) असन्देह- असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् अर्थात् संदेह की निवृत्ति के लिए व्याकरणाध्ययन आवश्यक है। क्योकि 'स्थूलपृषतीमाग्निवारूणीमनड्वाहीमालभेत इति'। इस श्रुति में 'स्थूलपृषती' के अर्थ में संदेह उत्पन्न होता है कि इस शब्द का अर्थ मोटी और बिन्दुओं वाली गौ,यह माना जाय अथवा जिस गौ के शरीर पर मोटे-बिन्दु अर्थात् छींटे हैं वह?

जो पुरूष व्याकरणच्युत होगा वह स्वर से 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकता, जबकि वैयाकरण स्वर देखकर भी अर्थ का निर्णय करता है। यदि 'स्थूलपृषती' में पूर्वपद स्थूल का प्रकृति स्वर है, तब यहाँ बहुब्रीहि समास होगा, यदि समास का अन्त्य अच् उदात्त है तो यह तत्पुरूष है। इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने व्याकरण-अध्ययन के पाँच प्रमुख प्रयोजन- बतलाये। तदुपरान्त महर्षि शब्दानुशासन के त्रयोदश अन्य गौण प्रयोजनों का उल्लेख महाभाष्य में करते है। उन्हीं गौण प्रयोजनों के प्रतीक इस प्रकार है-

(1) तेऽसुराः- ''तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लैच्छो ह वा एष यदपषब्दः।'' म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

अर्थात् ' वे प्रसिद्ध दैत्य थे' किन्तु 'हे अरयः हे अरयः' अर्थात् 'हे शत्रुओं हे शत्रुओं' के स्थान पर वह 'हेलयः हेलयः' इस प्रकार यज्ञस्थल में उच्चारण करते थे। अतः वे पराभव को प्राप्त हुये। अतः ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपशब्द भाषण नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह अपशब्द है। जो म्लेच्छ रूप से प्रसिद्ध है।

व्याकरणिक प्रक्रिया से भ्रष्ट होना ही अपशब्दत्व है और यहीं अपशब्द का प्रयोग म्लेच्छन है। असुर ''हेलयो हेलयः' इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग करते हुये पराजित हो गये। क्योंकि 'हेलयः' प्रयोग में 'हैहेप्रयोगे हैहेयोः' इस सूत्र से प्लुत और ' प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' इस सूत्र से प्रकृतिभाव करना चाहिए था, सो नहीं करना म्लेच्छन हुआ।

द्वितीय म्लेच्छन 'सर्वस्य द्वे' इस सूत्र से जहाँ पद का द्वित्व किया जाना था, परन्तु असुरों के कथन में सम्पूर्ण वाक्य ही द्विरूक्त है। तथा तृतीय म्लेच्छन जिह्वा दोष के कारण 'र' के स्थान 'ल' का उच्चारण है। अतः उनका प्रयोग दुष्ट है इन दुष्ट प्रयोगों से बचने के लिये हमें व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(2) दुष्टः शब्दः-

''दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स् वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।। इति।"
दुष्टाछब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।।

अर्थात् स्वरदोष अथवा वर्णदोष से दोषयुक्त अर्थात् अशुद्ध शब्द जिस अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है, उससे भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ, अभिमत अर्थ का कथन नहीं करता, और केवल इतना ही नहीं वरन् वह अशुद्ध शब्द वज्र बनकर उसी प्रकार यजमान को मार देता है जिस प्रकार इन्द्र शत्रु (वृत्र) स्वर के अपराध के कारण मारा गया था। दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग हम न करें एतदर्थ हमें शब्द शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

'दुष्टः शब्दः' इस प्रतीक से यहीं प्रयोजन है।

ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप् का वध इन्द्र के द्वारा हुआ। प्रतिशोध की भावना से त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए अभिचार याग किया। उसमें उसने 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' अर्थात् 'हे अग्निदेव' तुम इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होओं कि तेरी ज्वालाओं से उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र को मारने वाला है- इस मंत्र का पारायण किया। परन्तु विवक्षित अर्थ की प्राप्ति तब ही हो सकती थी जब 'इन्द्रशत्रु' शब्द को तत्पुरूष समास बनाकर अन्तोदात्त पढ़ा जाता। परन्तु त्वष्टा ने प्रमादपूर्वक पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया, जिससे यह बहुब्रीहि समास हो गया, जिसका अर्थ हुआ कि 'हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका ऐसे रूप वाला होता हुआ बढ़' । फलतः वृत्र उत्पन्न होते ही, इन्द्र के द्वारा मार डाला गया। अतः हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिए व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है।

(3) यदधीतम्

" यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिंचित्।।"
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।।

तृतीय 'यदधीतम्' से सूचित प्रयोजन को महर्षि पतंजलि बतलाते है कि जिसका अध्ययन तो किया गया, परन्तु उस पाठ के स्वरादि के संस्कारों का ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् उसके अर्थो का परिज्ञान नहीं हो पाया। फलतः जो पाठमात्र से बार-बार उच्चारित होता रहा। उसके अध्ययन उसी प्रकार निष्फल हुआ जिस प्रकार सूखा काष्ठ अग्नि के अभाव के कारण प्रकाशमान नहीं होता।

अतः बिना अर्थ के जाने हम पाठ न करें, एतदर्थ व्याकरण शास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है।

उपर्युक्त कारिका में ' अधीतं' पद का सम्बन्ध शब्दात्मक ज्ञान से है तथा 'अविज्ञातं' पर का संबंध अर्थात्मक ज्ञान की हीनता से है।शब्दात्मक ज्ञान प्राप्त करके यदि अर्थ- ज्ञान को नहीं जाना जाय तो वह शब्द - ज्ञान उसी प्रकार निष्फल होता है यथा अग्निहीन सूखा-काष्ठ। अतः शब्द-ज्ञान के साथ अर्थज्ञान परमावश्यक और प्राधान्य है।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधुतपाप्मा।।"

यह श्रुतिवाक्य भी अर्थज्ञानपूर्वक शब्दाध्ययन का आदेश देता है।

अतः हमकों व्याकरण- शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, जिससे हमारा अध्ययन भी अनर्थक न हो। क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही हम शब्द के 'प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को जानकर अर्थप्राप्ति कर सकते है।

(4) यस्तु प्रयङ्क्ते

" यस्तु प्रयङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।"

अर्थात् शब्दों का व्यवहार करते समय जो कुशल व्यक्ति अर्थविशेष में शब्दों का प्रयोग ठीक प्रकार से करता है क्योंकि एक शब्द जो कि व्यक्ति, स्थान अथवा अवसर आदि निमित्तों को लेकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ उचित होता है, तो वहीं शब्द किसी अन्य निमित्त को लेकर अनुचित भी होता है। अतः कुशल व्यक्ति शब्दों के प्रयोग विशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक-ठीक प्रयोग करता है। वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है और अपशब्दों से पाप का भागी होता है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'दोषी कौन होता है'। सिद्धान्ती उत्तर देता है कि 'वाग्योगविदेव' अर्थात् 'जो शब्दों के अर्थविशेष में योग का जानने वाला विद्वान है'। पुनः पूर्वपक्षी कहता है 'ऐसा कैसे जाना'? सिद्धान्ती उत्तर देता है कि 'यो हि शब्दाजानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः।'' अर्थात्' जो साधु शब्दों को जानता है, वहीं अपशब्दों = असाधु शब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म =पुण्य माना जाता है, वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म = पाप होता है। वस्तुतः पाप की ही प्राप्ति अधिक होती है। क्योंकि संख्या में साधु शब्द कम और अपशब्द अधिक है। एक-एक साधु शब्द के अनेक असाधु शब्द होते है। यथा- 'गौ' (साधु) शब्द में - 'गावी', 'गोणी', 'गोता' तथा 'गोपोतलिका' आदिक अनेक असाधु प्रयोग होते है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम्' अर्थात् ' जो शब्द प्रयोगवत्ता नहीं है उसको तो उसका अज्ञान ही बचाता है।' सिद्धान्ती कहता है यह कथन ठीक नहीं। अज्ञान में भी ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरा का पान कर ले, तो भी वह पतित होता ही है। तो ' सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः'- यहाँ 'दुष्यति' का कर्ता कौन है? निश्चित ही 'अवाग्योगविद्', क्योकि जो वाग्योविद् = शब्दार्थ का सम्बन्ध जानने वाला है उसका विशिष्ट ज्ञान ही रक्षक है।

प्रश्नकर्ता पूछता है कि यह श्लोक कहाँ पढ़ा? समाधाता कि 'भ्राज नामक श्लोक है जहाँ'। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'क्या श्लोक भी प्रमाण हो गये?' तो निम्न श्लोक भी प्रमाण होने योग्य है-

यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्।।

इस पर समाधानकर्ता कहता है कि यह वाक्य प्रमाण नहीं है। क्योकि यह प्रमत्त से उच्चरित हुआ है। जो वाक्य प्रमत्त द्वारा उच्चरित नहीं हो, वह प्रमाण होता है।

(5) अविद्वांसः

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदु।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।
अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।।

'अविद्वांसः- इस प्रयोजन को महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते है कि जो अवैयाकरण प्रत्यभिवादन में नामों मे प्लुत करके उच्चारण करना नहीं जानते है, उनके विषय में प्रवास से लौटने के बाद 'यह मैं आ गया' ऐसा उसी प्रकार कहे जैसे परदेश से लौटने पर स्त्रियों के विषय में कहा जाता है। अतः प्रणाम करते समय जैसा स्त्रियों के विषय में कहा जाता है, वैसा हमारे लिए प्रयुक्त न हो इसके लिए हमें व्याकरण- शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

आचार्य पाणिनि ने उपर्युक्त ' प्रयोजन' को 'प्रत्यभिवादेऽशुद्रे' सूत्र से सिद्ध किया है। उनके अनुसार शुद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अन्यत्र वाक्य की टि को प्लुत होता है। पाणिनिकाल में नमस्कार करने वाले को गुरूजन नाम का उच्चारण कर और उस नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत कर आशीर्वाद दिया करते थे, यथा- आयुष्मानेधि देवदत्त३। अवैयाकरण नाम के अन्त मे प्लुत करने मे समर्थ नहीं हो सकता था। अतः सभ्य समाज में उसको सम्मान की प्राप्ति नहीं होती थी।

(6) विभक्तिं कुर्वन्ति

'याज्ञिकाः पठन्ति-प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्'

अर्थात्-'विभक्ति का प्रयोग करके उच्चारण किया जाय। क्योकि याज्ञिक कहते है कि प्रयाज मंत्रों का उच्चारण समुचित विभक्त्यन्त करके करना चाहिए। परन्तु व्याकरण के ज्ञान के बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता। अतः व्याकरण का अध्ययन करना परमावश्यक है।
जब किसी कारण कर्मच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की आवश्यकता होती है। अतः भाष्यकार ने पुनराधेयेष्टि की इतिकर्तव्यता के विषय मे यह प्रयोजन कहा है।

(7) यो वा इमाम्

'यो वा इमाम् पदषः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्तित्वजीनों भवति। आर्तित्वजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।'

अर्थात् जो इस वेदरूप वाणी के प्रत्येक पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्तित्वजीन अर्थात् यजमान तथा याजक बनता है। हम भी ऋत्विक्-प्राप्ति का अधिकारी यजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याजक बनें, एतदर्थ व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(8) चत्वारि

'चत्वारि श्रृंङ्ग त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभे रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।'

अर्थात् इसके चार सींग है, तीन चरण है, दो सिर है, और सात हाथ है। तीन स्थानों में बँधा हुआ वृषभ बड़ा शब्द करता है कि- यह महान् (शब्द रूपी) देवता मृत्यलोक के प्राणियों में प्रविष्ट हुआ। इसके चार सींग चार प्रकार के पद समूह- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात है। इसके तीन पाद ही तीन काल- भूत, भविष्य, वर्तमान है। इसके दो सिर ही शब्द के दो स्वरूप-नित्य तथा कार्य है। तथा इसके सात हाथ ही प्रथमा,द्वितीया आदि सप्त विभक्तियाँ है। यह छाती, कण्ठ और सिर तीन स्थानों से बँधा हुआ है। कामनाओं की पूर्ति करने के कारण यह वृषभ है। 'रोरवीति का अर्थ है-'शब्द करता है। यह कैसे? क्योकि 'रू' धातु का अर्थ है 'शब्द करना'। 'महा देवः' इत्यादि का अर्थ है- (वह) महान् देवरूप शब्द मरण स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किए हुए है। महान् देव अर्थात् शब्द से अपना तादात्मय हो, एतदर्थ व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। अन्य व्याख्यानकर्ता के मत को स्पष्ट करते हुये महाभाष्यकार ने अन्य ऋचा का उल्लेख किया है-

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंङ्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।'

अर्थात् 'शब्द के निश्चित चार पद (स्थान) है, इन चारों पदों को संयमित चित्त वाले विप्र ही जान पाते है। अज्ञान रूपी गुहा में इसके तीन भाग कोई चेष्टा नहीं करते है। मनुष्यों में जो चतुर्थ स्थान है वह वाणी (शब्द) का चतुर्थ भाग है।

(9) उत त्वः

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे जायवे पत्य उषती सुवासाः।।'

अर्थात् अवैयाकरण वाणी को देखा हुआ भी नहीं देख पाता, उसी प्रकार वह वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता। किन्तु जिस प्रकार (ऋतु स्नाता) भार्या सुन्दर वस्त्रों से सजी होने पर भी अपने पति को अपना शरीर प्रकट कर देती है, इसी प्रकार वाणी वैयाकरण के सन्मुख अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे प्रति प्रकट करें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या करते हुये भाष्यकार कहते है कि- 'उत त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः श्रृण्वुन्नपि न श्रृणोत्येनामिति'। अर्थात् अवैयाकरण वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता अर्थात् उसके यर्थाथ स्वरूप को जान नहीं पाता तथा सुनकर भी वाणी को सुन नहीं पाता जैसे पशु-पक्षियों का सुनना निरर्थक ही होता है। जबकि वाणी को समझने वाले वैयाकरण के समक्ष स्वयं वाणी अपने आपको उसी प्रकार प्रकट कर देती जिस प्रकार कोई कामिनी स्त्री पति के प्रसन्नार्थ सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित शरीर को प्रस्तुत कर देती है।

(10) सक्तुमिव

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।'

जिस प्रकार सत्तुओं को छलनी के द्वारा छानकर परिष्कृत किया जाता है वैसे ही भद्र पुरूष अपनी बुद्धि के बल से वाणी का व्याकरण =विश्लेषणदि करते है वहाँ समान ख्याति वाले मनुष्य आपस में सायुज्य का अनुभव करते है। क्योकि इनकी वाणी में कल्याणयुक्त लक्ष्मी (स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप) बहुत अधिक निवास करती है।

प्रस्तुत मंत्र व्याकरण के मोक्षजनकत्व का ज्ञापक है। इसकी व्याख्या करते हुये महर्षि पतंजलि कहते है- 'सक्तु:-सचतेदुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति'। सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'सच् = चिपकना'। अतः सत्तु का छानना=शोधन करना कठिन कार्य है। अथवा 'कस' धातु में वर्ण विपर्यय करके 'सक्तु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ 'विकसित होने वाला'।

'तितऊ-परिवपनं भवति -ततवद्वा तुन्नवद्वा' अर्थात् 'विस्तार युक्त' वा 'बहुत छिद्रों से युक्त' होने से उसको तितउ कहा जाता है। यह वह वस्तु है जिससे किसी का शोधन किया जाय। 'धीर' = जो व्याकरण विषयक ध्यान में निमग्न रहता है। जो मानस ज्ञान के द्वारा केवल साधु शब्दों का प्रयोग करते है तथा अपशब्दों का परिहार करते है। अतः उनकी शब्द एवं अर्थ के मध्य एकत्व भावना रहती है अर्थात् उन्हें ब्रह्म ज्ञान हो चुका है।

जिज्ञासु प्रश्न करता है-वहाँ शब्द -अर्थ के मध्य जो सायुज्य की भावना होती है वह कहाँ होती है? इसका समाधान करते है-जो दुर्गम (मोक्ष) क मार्ग है, जिसको ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है तथा वह वेद रूपी वाणी का विषय है। वहाँ, पुनः प्रश्न करता है-'वे कौन है? उत्तर=वैयाकरण। वे समान ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते है? 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहितिवाचि' क्योकि इनकी वाणी मे कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी को लक्ष्मी इसलिए कहते है क्योकि वह लक्षण करती है, चमकती है अथवा अधिकार वाली होती है। हमारी वाणी में भी लक्षण करने वाली, चमकती हुयी तथा चमकती हुयी तथा अधिकार वाली लक्ष्मी निहित हो, एतदर्थ व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(11) सारस्वतीम्

" आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां
सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्"। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।।"

''सारस्वतीम्' - इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार करते हुए महाभाष्यकार कहते है कि 'यजुर्वेदी लोग कहते है- जो अग्नि की स्थापना कर उसका पालन करते है, वे यदि असाधु शब्दों का प्रयोग करें तो प्रायश्चित के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि-याग करें। हम प्रायश्चित के योग्य न हों इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

(12) दशम्यां पुत्रस्य

'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य विदध्याद्

घोषवदाद्यन्तरन्तः स्थमवृद्धं त्रिपुरूषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्।'

याज्ञिक लोग पढ़ते है-''पुत्र के जन्म के दसवें दिन के बाद ग्यारवें दिन नामकरण करना चाहिए। नाम का प्रथम अक्षर घोष वर्ण वाला हो, मध्य में अन्तःस्थ वर्ण वाला हो और वृद्धि स्वर (आ, ऐ, औ) से युक्त न हो तथा जो पिता के तीन पूर्व पुरूषों के नाम का स्मरण कराता हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो। नाम दो अथवा चार अक्षर वाला हो तथा वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो । व्याकरण के अध्ययन के बिना कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

(13) सुदेवो असि

'सुदेवो असि वरूण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।।'

तेरहवें प्रतीक 'सुदेवो असि' से स्पष्ट प्रयोजन को महाभाष्यकार बताते है कि तू शोभन देव है। जिस प्रकार भीतर से खोखली सुन्दर लौह प्रतिमा में प्रवेश कर, उसके मल को जलाकर आग उसे शुद्ध कर डालती है, उसी प्रकार तुझ से सात नदियों की भांति सात विभक्तियाँ तालु देश में पहुँचकी उसे प्रकाशित करती है।

इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि कहते है-

'सुदेवो असि वरूण सत्यदेवाऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः'। अनुक्षरन्ति काकुदम् तालु। काकुजिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यवा शोभनामूर्ति सुषिरामग्निरन्तः प्रविष्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।

19.6 व्याकरण की परिभाषा

प्रश्न होता है कि 'व्याकरण इस शब्द का क्या अर्थ है। इसके समाधानार्थ भाष्यकार उत्तर देते है- 'सूत्रम्'। परन्तु 'सूत्र' में व्याकरणत्व स्वीकार करने पर दो आपत्तियाँ उपस्थित होती है-

1. **सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः-** षष्ठी विभक्ति का प्रयोग वहीं उपपन्न हो सकता है, जहाँ दो पृथक् वस्तुओं का निर्देश करना हो, क्योंकि विभक्ति दो पदार्थो का सम्बन्ध बताने में ही प्रयुक्त होती है। परन्तु व्यवहार में सूत्र और व्याकरण इन दोनों ही पदो के द्वारा शास्त्र का प्रतिपादन किया जाता है। उपर्युक्त वार्तिक में यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मानते तो 'व्याकरण का सूत्र' इस वाक्य में षष्ठी का अर्थ नहीं बनेगा। क्योकि व्याकरण और सूत्र में अभेद होने से सूत्र से पृथक् व्याकरण क्या होगा जिस व्याकरण का वह सूत्र माना जाय?

2. **शब्दाप्रतिपत्तिः-** यदि व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र मान लें तो सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते है-ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योकि हम व्याकरण से शब्दो का ज्ञान करते है। केवल मात्र सूत्र को ही व्याकरण मानने पर शब्दों का सम्यक् प्रतिपादन नहीं हो सकता, प्रत्युत उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा सूत्रान्तरों में श्रूयमाण पदों का अध्याहार कर सूत्र के सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करके ही शब्द प्रतिपत्ति सम्भव हो सकती है।

पक्षान्तर उपस्थित करने वाला कहता है कि यदि व्याकरण पद का अर्थ सूत्र मानने में दोष है तो शब्द में व्याकरणत्व स्वीकार हो-एवं तर्हि शब्दः। परन्तु व्याकरणत्व को शब्द में स्वीकार करने में दो समस्यायें है-

(1) यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते-व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरण। नहि शब्देन किंचित् व्याक्रियते।-यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' माना जाय तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता है। 'व्याकरण' शब्द 'वि' और र्'आ' उपसर्ग 'कृ' से ल्युट प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। व्याकरण से शब्दों का प्रकृति विभागादि किया जाता है, परन्तु यह विभाग शब्दों से नहीं, सूत्रों की सहायता से ही निष्पन्न होता है।

(2) भवे च तद्धितः-'तत्र भवः' और 'तेन प्रोक्तम्' से होने वाले तद्धित प्रत्ययों का अर्थ भी इससे उपपन्न नहीं हो पाता। व्याकरण में होने वाला योग वैयाकरण कहा जाता हैं, परन्तु यह योग शब्द से नही, सूत्र से होता है। इसी प्रकार 'तेन प्रोक्तम्' से 'पाणिनि' शब्द से तद्धित अण् प्रत्यय करने पर पाणिनीय शब्द सिद्ध होता है। परन्तु पाणिनि ने शब्दों का आख्यान् नहीं किया प्रत्युत उत्सर्ग और अपवाद रीति से सूत्रों का अन्वाख्यान किया है। अतः शब्द को व्याकरण का वाचक नहीं कहा जा सकता।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि 'भवे' और प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो पृथक् वार्तिक आचार्य ने क्यों कहे है? क्या 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इस एक ही वार्तिक के उच्चारण से 'भव' अर्थ में जो तद्धित प्रत्यय होता है, उसकी भी अनुपत्ति नहीं हो जायेगी?

उक्त प्रश्न का परिहार करते है कि आचार्य लोग एक सूत्र का निर्माण कर पुनः उसका प्रत्यावर्तन नहीं करते।

प्रथम आचार्य (पाणिनि) ने 'भवे च तद्धितः' इस सूत्र का पाठ किया। तदनन्तर विचार किया कि प्रोक्त आदि अर्थ में किये जाने वाले प्रत्यय भी नहीं बनेंगे। अतः उन्होने 'प्रोक्तादयश्र तद्धिताः' इस वार्तिक को लिखा।

पूर्वोक्त प्रथम आक्षेप-जो व्याकरण का अर्थ 'शब्द' ले तब वैयाकरण शब्द मे ल्युट प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता यह कोई दोष नहीं है। केवल करण और अधिकरण में ही ल्युट का विधान नहीं है पुनः प्रश्न होता है कि-'किन अर्थो में विधान होता है 'कृत्यल्युटो बहुलम्' यह सूत्र करणाधिकरण के अतिरिक्त अन्य अर्थो में भी ल्युट प्रत्यय का विधान करता है। यथा-प्रस्कन्दनम् और प्रपतनम्। पुनश्च शब्दों के द्वारा भी शब्दों का व्याकरण होता है। यथा गौः शब्द के उच्चारण से अश्व, गर्दभ आदि सभी की निवृति हो जाती है। परन्तु 'भव' और 'प्रोक्तादि' अर्थो में तद्धित प्रत्ययों की अनुपपत्ति की बात अवश्य उचित है, अतः इस दृष्टि से शब्द को व्याकरण मानना अनुचित ठहरता है। यदि ऐसी बात है तो- सूत्र और शब्द दोनों में ही व्याकरणत्व का निरास करके सम्प्रति सिद्धान्त के रूप में इन दोनों को युगपद् 'व्याकरण' संज्ञा से अभिहित किया गया है-'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' = 'लक्ष्य और लक्षण - दोनों का समुदाय व्याकरण है। लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है? 'शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्' = शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है।

उक्त समाधान का खण्डन करने वाला कहता है कि समुदाय में प्रवृत्त 'व्याकरण' शब्द अवयव में उपपन्न नहीं हो सकता। केवल सूत्रों को पढ़ने वाले को भी वैयाकरण कहना इष्ट है। समाधानकर्ता

कहता है कि यह कोई दोष नहीं है। क्योकि समुदायवाचक शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त पाये जाते है यथा-पूर्वे पांचालाः, उत्तरे पंचालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति। इस प्रकार समुदाय में प्रयुक्त 'व्याकरण' शब्द उसके अवयव में भी प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार वन के एक भाग के पुष्पित होने पर भी 'पुष्पितं वनं, तथा पट के एक भाग के शुक्ल होने पर भी 'शुक्लः पटः' आदि रूप उपपन्न होते है।

'अथवा पुनरस्तु सूत्रम्'- अथवा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ 'सूत्र' ही रहे तो भी कोई हानि नहीं है, क्योकि राहु और राहु के शिर में तात्विक भेद न होने पर भी जिस प्रकार से शब्द और अर्थ मे जो भेद होता है, उस भेद के कारण 'राहु का सिर' इसमें भी भेद का व्यवहार मान लिया जाता है। उसी प्रकार से सूत्र और व्याकरण में भी संबंध की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का उपपादन किया जा सकता है।

द्वितीय दोष का स्मरण कराते हुए कहते है कि यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मान लें तो सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोगों को सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता अपितु व्याख्यान सहित सूत्र से भी होता है। और जो सूत्र के अतिरिक्त उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि रूप व्याख्यान से युक्त होने पर ही शब्द प्रतिपत्ति की बात कही गयी थी वह भी उपयुक्त नहीं है, क्योकि यह सब मन्दबुद्धि वाले जिज्ञासु के विचार से है। वस्तुतः शब्दों का ज्ञान सूत्र से ही होता है। चूंकि सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान होता है अतः जो सूत्र से विरूद्ध बात कहता है। वह स्वीकार के योग्य नहीं है।

19.7 साधु शब्द के प्रयोग का परिणाम

महर्षि पतंजलि यह निर्दिष्ट करते है कि यह 'शब्दानुशासन किस प्रकार करना चाहिए। क्या साधु शब्दों का उपदेश किया जाय, अथवा अपशब्दों का या दोनों (साधु, असाधु) का उपदेश करना चाहिए। किं शब्दोपदेशः कर्तव्य, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति?

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए महाभाष्यकार कहते है-'अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा-भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते।' ' पंच पंचनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते एतद्- अतोऽन्येभक्ष्या इति।' अर्थात् किसी एक के उपदेश के द्वारा अन्य कार्य सिद्धि हो सकती है। जैसे भक्ष्य पदार्थ का नियम करने से, अभक्ष्य पदार्थो का निषेध स्वतः हो जाता है। अथवा ' पाँच पंचनख' (खरहा, साही, खड्गी, कछुआ, एवं गोधा) प्राणियों का भक्षण करना चाहिए।'........ ऐसा कहने मात्र से इनके अन्य प्राणियों के भक्षण का प्रतिषेध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार-'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्य सूकरः' = 'ग्राम्य मुर्गा अभक्ष्य है तथा ग्राम्य सूअर अभक्ष्य है'....... कहने पर अरण्य मुर्गा तथा सुअर भक्ष्य है, यह नियम ध्यान में आ जाता है।

इसी प्रकार 'यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत, एतद्-गाव्यादयोऽपशब्दा इति।' यदि साधु शब्दों का उपदेश किया जाय तो 'गौः' इस साधु शब्द के उच्चारण से स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'गावी' आदि अपशब्द है। और यदि अपशब्दों =असाधु शब्दों का उपदेश किया जाय तो 'गावी' मात्र के उच्चारण करने पर ज्ञान हो जाता है कि 'गौः' आदि साधु शब्द है।

इस पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि - 'किं पुनरत्र ज्यायः? इन दोनों में किसका प्रतिपादन करना चाहिए।'लघुत्वाच्छब्दोपदेषः' = भाष्यकार कहते है कि लाघव के कारण साधु शब्दों का प्रतिपादन

करना श्रेयस्कर है, क्योकि लोक में साधु शब्द अतिशय लघु है तथा असाधु शब्द का उपदेश विस्तार से होता है, क्योकि एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते है, यथा- गौः शब्द के गावी, गौवी, गोता, गोपीतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते है। इष्ट प्राप्तिजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाख्यान=अनुशासन हो जाता है-'इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।' अतः लाघव के कारण साधु शब्दों का उपदेश करना चाहिए।

19.8 व्याकरण की पद्धति

व्याकरण -शास्त्र का जितना विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन संस्कृत भाषा में हुआ है, उतना अन्य किसी भी भाषा में नहीं। व्याकरण को साड्ढ वेद का मुख बताया गया है। वैदिक युग में ही शब्द की मीमांसा की ओर भारतीय मनीषियों की बुद्धि दौड़ती रही है। उच्चारण पर विचार करने वाले वेदांग 'शिक्षा' के प्रतिपादन के लिए 'प्रातिशाख्यों' की रचना हुई। इसके उपरान्त यास्क मुनि ने शब्दनिरूक्ति-सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रंथ 'निरूक्त' प्रस्तुत किया। यास्क ने ही सर्वप्रथम शब्दों के चतुर्विध विभाजन (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) को स्थापित किया है और यह सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया कि सारे शब्दों का आधार धातु-समूह ही है। इन्हीं सिद्धान्तों पर पाणिनि की अष्टाधायी एवं आधुनिक निरूक्ति- विज्ञान अधिकतर आश्रित है। यास्क का समय अनुमान से 800 वर्ष ईसा पूर्व है। यास्क के परवर्ती और पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख - मात्र मिलता है। उनकी कृतियाँ विस्मृति में विलीन हो चुकी है। आापिशील, काशकृत्स्न, शाकटायन, इन्द्र प्रभूति विभिन्न वैयाकरणों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में तथा बाद की टीकाओं में मिलता है। इनमें ऐन्द्र व्याकरण का एक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय बहुत दिनों तक रहा। इसका अनुसरण कलापव्याकरण ने किया है। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण ही सर्वप्रथम व्याकरण है। डाक्टर बर्नेल ने इस मत की पुष्टि करने के लिए प्राचीनतम तामिल व्याकरण तोल्कापियम् की ऐन्द्र व्याकरण से समानता दिखलायी है और यह मत स्थापित किया है कि ऐन्द्र व्याकरण ही सर्वप्रथम है और इसका अनुकरण करके ही कातन्त्र तथा अन्य व्याकरणों की रचना हुई है। वररूचि और व्याडि इसी व्याकरण के सम्प्रदाय के थे। ऐन्द्र व्याकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी परिभाषाएँ पाणिनि की परिभाषाओं की तरह जटिल और प्रौढ़ नहीं है। सम्भवतः ऐन्द्र के बाद कम से कम दो और सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व प्रवत्रित हुए- ऐसा आधुनिक विचारकों का अनुमान है।

पाणिनि अत्यन्त संक्षिप्त रूप में एक विस्तृत भाषा का अति सुसंयत और सुदृढ़ व्याकरण लिखने के लिए संसार में विख्यात हो गये है। उनके ग्रन्थ में वैज्ञानिक विवेचना की परिपूर्णता तथा शैली की अनुपमता दोनों इस तरह मिली हुई है कि संसार की किसी अन्य भाषा में इसके जोड़ का इस विषय पर अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं है। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय 500 ई.पू. और 400 वर्ष ई. पू. के बीच निश्चित किया है। मैक्समूलर ने इनकी तिथि 350 वर्ष ई. पू. निर्धारित की थी।

इनका ग्रन्थ अष्टाध्यायी लगभग 4000 सूत्रों से निर्मित है और आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। (पाँच सूत्रों को छोड़कर शेष) प्रथम अध्याय में व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी संज्ञायें तथा परिभाषाएँ है। दूसरे अध्याय में समासों का विस्तृत विवेचन तथा कारक की व्याख्या है। तीसरे अध्याय मे तथा आठवें कृदन्त प्रकरण है। चौथे और पाँचवे मे तद्धित प्रकरण है तथा इसके

पश्चात् छठे और सातवें में तिङ् सुप् प्रत्ययों से सम्बन्धित प्रक्रिया का विवेचन है। आठवें में सन्धि-प्रकरण भी है। पाणिनि ने अत्यन्त श्रृंखलाबद्ध और संश्लिष्ट विधि से व्याकरण की बिखरी हुई सामग्री को सफलता के साथ एकत्र किया है। पाणिनि का ध्यान इस प्रकार इस प्रयास में संक्षेपातिशय पर बहुत केन्द्रित रहा है। इसलिए अष्टाध्यायी का दुर्गम होना स्वाभाविक है।

संक्षेप करने में प्रधान हेतु सम्भवत कंठाग्र कराना और लेखन - सामग्री की प्रचुरता के अभाव ही रहे होंगे | इस संक्षेप के लिए पाणिनि को मुख्य रूप से छः साधनों का आश्रय लेना पढ़ा है – (1) प्रत्याहार , (2) अनुबंध, (3) गण, (4) संज्ञाएँ (घ, षट, श्लु, टी, घु, प्रभृति), (5) अनुवृति , (6) जगह –जगह कई सूत्रों के लागू होने वाले स्थानों के लिए पूर्वत्रा·सिद्धम (8|2|1) सदृश नियमों (परिभाषाओं) की स्थापना |

इसके अतरिक्त पाणिनि की अष्टाधायी को समझाने के लिए टीकाकारों ने ज्ञापक सूत्रों को अलग से ढूँढ निकाला है तथा सूत्रों में योगविभाग करके कुछ स्पष्ट न कही गयी बातों कों भी शामिल किया है |पाणिनि ने संस्कृत को जीवित (बोलचाल की) भाषा के रूप में लिया है | उन्होंने लोक, वेद, की भाषा संस्कृत ही बताई है | लोक की संस्कृत कों 'भाषा' तथा वेद की संस्कृत को 'छंदस्' शब्द का प्रयोग करते है | भाषा- शब्द का अर्थ ही है जिसे लोग भाषित करें या बोलें | इसके प्रमाण में हम केवल दो चार युक्तियाँ यहाँ प्रसंगवश दे देते है | पहले तो वैदिक भाषा कों अपवाद के रूप में ग्रहण करना इसी तथ्य की ओर सकेंत करता है की पाणिनि के सामने वर्तमान भाषा छांदस् भाषा से कुछ आगे चली आयी थी, पर अभी बहुत दूर नही हुई थी, अन्यथा वैदिक भाषा का वे अलग से व्याकरण अवश्य लिखते | दूसरे, स्तम्बशक्तोरिन् (3।2।24), हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ (3।2।25), व्रीहिशाल्योर्ढक् (5।2।2), नते नासिकायाः संज्ञाया टीर्ट टीटनाटज्भ्रटचः (5।2।31), कृ´k द्वितीय-तृतीय-शम्बबीजात्कृषौ (5।4।58) प्रभृति सामान्य कृषक- जीवन से ही सम्बन्ध रखने वाले सूत्रों की रचना स्पष्ट सही सिद्ध करती है कि जिस भाषा का विश्लेषण पाणिनी कर रहे है, वह बोलचाल की भाषा है। तीसरे, गढपाठों मे आये हुये नाम इतने विचित्र और अनजान से लगते है कि किसी को यह स्वप्न में भी विचार नहीं हो सकता कि ये शब्द स्टैण्डर्ड भाषा के होगें। उदाहरणार्थ गुहुलु, आलिगु, कहुषय, नवाकु, वटाकु, ब्रह्मस्क, शिग्रु, कहोढ प्रभृति।

पाणिनी के लगभग 1250 सूत्रों पर आलोचनात्मक दृष्टि से वररूचि=कात्यायन ने 4000 वार्तिकों की रचना की है। 700 से अधिक सूत्रों की उन्होने बिना उनमें कोई दोष दिखाये सुन्दर व्याख्या की है, करीब 10 सूत्रों को व्यर्थ बताया है, तथा लगभग 540 सूत्रों में परिवर्तन एवं परिष्करण किया है। कात्यायन पाणिनि के प्रति उचित श्रद्धा भी यत्र-तत्र प्रदर्शित करते है। परन्तु उन्होंने अनेक स्थलों पर पाणिनि को समझने में ही भूल की है और कहीं- कहीं वे अनुचित आलोचना भी कर गये है। इस अनौचित्य की ओर महाभाष्यकार पतंजलि ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। कात्यायन के वात्त्रिक श्लोक और गद्य दोनों में है। वे दक्षिणात्य थे जैसा 'प्रियतद्धिता दाक्षिणातयाः' महाभाष्य के इस वाक्य से प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कात्यायन वाजसनेयी प्रातिशाख्य के भी प्रणेता है। वररूचि का समय 400 वर्ष ई. पू. और 300 ई. पू. के बीच में पढ़ता है।

पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन के प्रथम युग का अन्त पतजंलि के महाभाष्य ही में होता है तथा पाणिनि के स्थान को दृढ़ बनाने में कात्यायन और पतजंलि ने अपूर्व परिश्रम किया है। इसलिए परवर्ती वैयाकरण ने इन तीनों को 'मुनित्रय' के नाम से पुकारा है। पतजंलि के समय (दूसरी शताब्दी

ई. पू.) के बारे में अत्यन्त दृढ़ प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थ में मिले है। 'पुष्यमित्रं याजयामः', 'अरूणद्यवनः साकेतम्', 'अरूणद्यवनो मध्यमिकाम्' इन तीनों उद्धरणों से इतना निश्चित होता है कि पुष्यमित्र (शुंगराजा) के समय में सम्भवतः उसी के दरबार में पतजंलि विराजमान थे तथा उनके समय में मिनेण्डर (मिलिन्द) ने अयोध्या और मध्यमिका पर आक्रमण किया था। वह गोनर्द (सम्भवतः वर्तमान गोंडा जिला) के निवासी थे तथा उनकी माता का नाम गोणिका था शंका समाधान, आदि को अत्यन्त रोचक रूप में देते हुए और बहुतेरे घरेलु दृष्टान्तों के द्वारा विषय का सुगमता से प्रतिपादन करते हुए तथा साथ ही साथ अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक सब प्रकार की प्रवृत्तियों का अत्यन्त मनोरक परिचय देते हुए, पतजंलि ने महाभाष्य के रूप में एक अपूर्व रचना की है। इसके जोड़ का संस्कृत में और कोई भी ग्रन्थ नहीं है। पतजंलि की शैली के प्रवाह की बराबरी केवल श्रीशंकराचार्य का शारीरिक भाष्य करता है।

पतजंलि के बाद सातवीं शताब्दी तक दार्शनिक विचारधारा का सर्वत्र अधिक जोर रहा। अतः व्याकरण शास्त्र की मीमांसा कुछ समय के लिए बन्द्सी हो गई। सातवीं शताब्दी में जयादित्य और वामन द्वारा अष्टाध्यायी पर एक सरल और सर्वागीण वृत्ति (टीका) 'काशिका' लिखी गयी। जयादित्य का समय सन् 660 ई. है। इस काशिका पर भी उपटीकाएँ, 'न्यास' जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा और 'पद-मंजरी' हरदत्त द्वारा लिखर गयी। इसी समय के आस-पास व्याकरण का दार्शनिक विवेचन महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' लिखकर किया, जिसमें आगम, वाक्य और प्रकीर्ण इन तीन कांडों में कारिकाओं में अत्यन्त जटिल प्रश्न सुलझाये गये हैं और स्फोटवाद तथा 'शब्द से ही संसार के विवर्तित होने' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि की मृत्यु सन् 650 ई. में हुई थी। महाभाष्य पर काश्मीरी पंडित कैयट ने सन् 1100 ई. के लगभग 'प्रदीप' नाम की बहुत सुन्दर टीका लिखी। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य के भाई कहे जाते हैं।इस समय तक संस्कृत केवल अध्ययन-अध्यापन की भाषा रह गयी थी। अतः व्याकरण में मौलिक ग्रन्थों के लिखने का यों ही अवसर नहीं रह गया। इसके अतिरिक्त केवल बाल की खाल निकालने और नैयायिक समालोचना करने की ही प्रथा चल पड़ी पड़ी थी। अतः पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की भी दृष्टि बदली, उनके क्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। अब विषय -विभाग के आधार अध्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या की जाने लगी। विमल सरस्वती ने सन् 1350 ई. में रूप-माला' और रामचन्द्र ने 15 वीं शताब्दी ई. में 'प्रक्रिया- कौमुदी' इसी दृष्टिकोण से लिखी। परन्तु इस श्रेणी में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथं की रचना सन् 1630 ई. के लगभग प्रख्यात् विद्वान् भट्ठोजि दीक्षित ने 'सिद्धान्त -कौमुदी' के नाम से की। इसकी महत्ता केवल इसकी टीकाओं की अनन्त श्रृंखलाओं से अथवा पाणिनीय व्याकरण की सबसे अधिक प्रचलित पाठ्य-पुस्तक होने से नहीं है। इसका महत्व इसलिए इतना अधिक है कि इस ग्रंथ में मुनित्रय के सिद्धान्तों के सांगोपांग समन्वय के साथ अन्य वैयाकरणों तथा अन्य पद्धतियों से भी सार ग्रहण किया गया है और नवोदित पद्धतियों की आलोचना इतनी सफलतापूर्वक की गयी है कि इस ग्रंथ ने अध्ययन के क्षेत्र से पाणिनि की अष्टाध्यायी के क्रम को तो निकाल ही दिया है, साथ ही साथ बोपदेव के 'मुग्धबोध', शर्ववर्मा के 'कातंत्र' तथा चन्द्रगोमी के 'चान्द्रर' प्रभृति व्याकरणों को भी बाहर कर दिया। भट्ठोजी रामचन्द्र शेष की चलाई नयी परम्परा के धुरीण है। यह रंगोजि दीक्षित के पुत्र थे । अष्टाध्यायी पर 'शब्द-कौस्तुभ' नाम की विस्तृत पर स्वयं 'प्रौढ़-मनोरमा' नाम की टीका लिखी तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'शब्द-कौस्तुभ' नाम की विस्तृत व्याख्या की। भट्ठोजि के भतीजे कोण्डभट्ट ने 'वाक्यविन्यास' और दार्शनिक विवेचन-सम्बन्धी 'वैयाकरण-भूषण' नामक

पुस्तक लिखी। भट्टोजि के गुरू-भाई पंडितराज जगन्नाथ ने ''प्रौढ़ मनोरमा' पर 'मनोरमाकुच-मर्दिनी' नामक आलोचनात्मक टीका लिखी है।

इनके अनन्तर व्याकरण के क्षेत्र में सबसे उज्जवल, चमकने वाले सितारे तथा अनेक शास्त्रों पर समान अधिकार रखने वाले, प्रखर मेधावी नागेशभट्ट का नाम आता है। धर्म- शास्त्र, साहित्य, योग आदि के अतिरिक्त व्याकरण-शास्त्र मे स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन इस विश्रुत विद्वान की लेखनी से हुआ। इनमें शब्द-रत्न (प्रौढ़-मनोरमा पर टीका), विषमी (शब्दकौस्तुभ की टीका), वैयाकरण - सिद्धान्त-मंजूषा, शब्देन्दु-शेखर और परिभाषेन्दुशेषर बहुत अधिक प्रसिद्ध है। नागेशभट्ट ने गंगेश उपाध्याय द्वारा प्रवृत्रित नव्यन्याय की प्रतिपादन- शैली में गंभीर और सूक्ष्म विचार प्रकट किये है।

सिद्धान्त - कौमुदी का संक्षेप बालकों की सुविधा के लिए लघु-सिद्धान्त-कौमुदी तथा मध्य-सिद्धान्त-कौमुदी के रूप में वरदराचार्य ने किया। लघु- कौमुदी का प्रचार बहुत हुआ है।

यहाँ हम संक्षेप में अन्य पद्धतियों का भी उल्लेख मात्र कर रहे है। 470 ई. के लगभग बौद्ध पंडित चन्द्रगोमी ने बहुत कुछ पाणिनि के आधार पर ब्राह्मण प्रभाव से बचते हुए बौद्धों के लिए चान्द्रव्याकरण बनाया। इसमें 3100 के लगभग सूत्र है। इसके पहिले ही शिववर्मा ने ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर कातन्त्र- व्याकरण की रचना सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में की थी। जैनेन्द्र-व्याकरण छठी तथा शाकटायन शब्दानुशासन 8वीं, हेमचन्द्र का शब्दानुशासन 12वीं, सारस्वत-व्याकरण, बोपदेव का मुग्ध-बोध, जौमर-व्याकरण 13 वीं तथा सौपù 14वीं शताब्दीं में लिखे गये। इनमें प्रायः पाणिनि के संशोधन एवं सरलीकरण का प्रयास हुआ है तथा बहुतों ने न्यूनतम सूत्रों की संख्या के लिए जी-जान से कोशिश की है। मुग्धबोध में 1200, तथा सारस्वत में केवल 700 सूत्र है। ये ही दो प्रचलित भी हुए है। बोपदेव वैष्णव थे अतः उनका व्याकरण वैष्णव रंग में रँगा हुआ है। इसीलिए उनके व्याकरण का अभी तक बंगाल में (चैतन्य महाप्रभु के कार्यक्षेत्र में) बहुत प्रचार है। सारस्वत-व्याकरण पर सत्रहवीं सदी में रामाश्रम ने सारस्वत-चन्द्रिका नामक टीका लिखी और वह भी कुछ समय पूर्व तक काशी के क्षेत्र में बहुत प्रचलित रही है। अन्यों का प्रभुत्व बहुत पूर्व से ही हट चुका है।

व्याकरण - शास्त्रों को अच्छी तरह अल्पकाल में समझने के लिए वैज्ञानिक विधि यह है कि संज्ञाओं, प्रत्याहारों तथा अन्य पूर्वोल्लिखित साधनों का सम्यक् ज्ञान करना चाहिए। इसके पश्चात् किस तरह प्रत्यय जुड़ते है और किस प्रकार का सूत्र से दूसरे सूत्र में अनुवृत्ति की जाती है , इसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्यय लगने की विधि इस प्रकार है- (1) प्रत्यय में पहले यह देखना चाहिए कि कितना अंश जुड़ने के उपयोग में आने वाला है, जैसे- ण्यत् प्रत्यय में चुटू सूत्र से आदि में आने वाला ण् तथा हलन्त्यम् सूत्र से त् लुप्त हो जाते है। केवल य भर बच रहता है। (2) पुनः यह देखना चाहिए कि इस प्रत्यय को पहले जुड़ना है या पीछे या बीच में। इस सम्बन्ध में एक ही नियम है प्रत्ययः (3।1।1) परश्च (3।1।2) अर्थात् प्रत्यय सदा बाद में ही जुड़ते है- (केवल तद्धित का एक प्रत्यय बहुत ऐसा है जो ईषदसमाप्ति अर्थ में शब्द के पहिले जुड़ता है, जैसे बहुतृण आदि)। (3) फिर यह देखना चाहिए कि जिसमें प्रत्यय को जुड़ना है, उसमे अनुबन्ध के कारण किस विकार का होना आवश्यक है, जैसे अचोञ्णिति

(7।2।115) अर्थात् ञित् तथा णित् प्रत्यय बाद में रहने पर पूर्व में आने वाले अजन्त अंग के स्वर की वृद्धि हो जाती है। इस सूत्र के अनुसार 'ह' के आगे 'ण्यत्' आने पर 'हृ' के ऋ में वृद्धि होकर 'आर्'

हो जाता है। (4) और अन्त में, अर्थ समझने के लिए 'किस हेतु से प्रत्यय लगा है' इसे समझना चाहिए।

19.9 पारिभाषिक शब्दावली

व्याकरण - व्यक्रियन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अननेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्- जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसको 'व्याकरण' कहते है।

शब्द - वर्णोच्चारण रूप ध्वनि ही शब्द है

वृत्तिसमवाय - वृत्तिसमवाय' का अर्थ है- वृत्ति के लिए समवाय, अथवा जिसका फल वृत्ति है वह समवाय अथवा जिसका प्रयोजन वृत्ति है वह समवाय।

सिद्ध शब्द - 'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।। कथं ज्ञायते? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते।'यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है, क्योकि यह प्रायः अविनाशी तथा नित्य अवस्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है।

उह - विभक्तियों के परिवर्तनादि को ऊह कहते है । वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्द सभी लिंग एवं विभक्तियों में नहीं है। जबकि यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरूष को उन मंत्रों में यथोचित लिंगों तथा विभक्तियों में बदलना होता है इसे ऊह कहते है।

आगम = विधायक शास्त्र अर्थात् वेद को आगम कहते है ।

साधु – व्याकरणिक प्रक्रिया से बना शुद्ध शब्द साधु शब्द कहलाता है। जैसे गौ ।

असाधु – लोक व्यवहार में वाक् सुख के लिए साधु शब्दों के लिए अपभ्रंश जो प्रयोग किए जाते हैं इसे असाधु शब्द कहते है । 'गौ' (साधु) शब्द के - 'गावी', 'गोणी', 'गोता' तथा 'गोपोतलिकां' आदिक अनेक असाधु प्रयोग होते है ।

सूत्र – अल्पाक्षर, असन्दिग्ध, सारयुक्त, चारों से व्याप्त करने वाले, अनिन्दनीय कथन सूत्र कहलाता है । ''सारस्वतीम्' - इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार करते हुए महाभाष्यकार कहते है कि 'यजुर्वेदी लोग कहते है- जो अग्नि की स्थापना कर उसका पालन करते है, वे यदि असाधु शब्दों का प्रयोग करें तो प्रायश्चित के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि-याग करें।

सक्तु- सचतेदुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति'। सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'सच् = चिपकना'। अतः सत्तु का छानना=शोधन करना कठिन कार्य है। अथवा 'कस' धातु में वर्ण विपर्यय करके 'सक्तु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ 'विकसित होने वाला'।

तितऊ - तितऊ-परिवपनं भवति -ततवद्वा तुन्नवद्वा' अर्थात् 'विस्तार युक्त' वा 'बहुत छिद्रों से युक्त' होने से उसको तितउ कहा जाता है। यह वह वस्तु है जिससे किसी का शोधन किया जाय।

धीर = जो व्याकरण विषयक ध्यान में निमग्न रहता है। जो मानस ज्ञान के द्वारा केवल साधु शब्दों का प्रयोग करते है तथा अपशब्दों का परिहार करते है। अतः उनकी शब्द एवं अर्थ के मध्य एकत्व भावना रहती है अर्थात् उन्हें ब्रह्म ज्ञान हो चुका है।

19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. शब्द किसे कहते है ?
2. असाधु शब्द के उदाहरण दिजिए ?
3. व्याकरण की क्या परिभाषा है ?
4. सक्तुमिव को स्पष्ठ किजिए ?

5. रक्षा प्रयोजन को संक्षेप में बताईये ?
6. सिद्धान्तकौमुदी के लेखक कौन है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. शब्द और अर्थ के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध है ? स्पष्ठ किजिए ?
2. साधु शब्द के प्रयोग के क्या परिणाम है ?
3. लक्ष्य- लक्षणे व्याकरणं उक्त पंक्ति को स्पष्ठ किजिए ?
4. व्याकरण की पद्धति पर एक लेख लिखिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. व्याकरण के क्या प्रयोजन है ? वर्णन किजिए ?
2. वर्णोपदेश किसे कहते है ? वर्णोपदेश के प्रयोजनों का वर्णन किजिए ?

19.11 सारांश

इस प्रकार उक्त इकाई के अध्ययन के अन्तर्गत हमने जाना कि शब्द वह होता जिससे किसी विषय की प्रतीति होती है। व्याकरण शास्त्र ने वर्णों का उपदेश लघुता के लिए किया है। व्याकरणिक प्रक्रिया से निष्पन्न शद्ध शब्द साधु शब्द होता है तथा लोक व्यवहार में वाक् सुख के लिए साधु शब्दों के लिए अपभ्रंश जो प्रयोग किए जाते हैं इसे असाधु शब्द कहते है। शब्द साधु तथा असाधु दोनो प्रकार के होते है। परन्तु साधु शब्दों के प्रयोग से अभ्युदय होता है। व्याकरण के पांच मुख्य प्रयोजन है – १. रक्षा २, ऊह ३. आगम ४. लघुता ५. असन्देह। अन्त में इकाई में हमने व्याकरण की पद्धति का अध्ययन किया कि किस प्रकार सूत्र वार्तिक भाष्य टीका उपटीकाओं के रूप में व्याकरणशास्त्र अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है।

19.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महाभाष्य(प्रथम संस्करण), व्याख्या० युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ, 1979.
2. व्याकरण महाभाष्य (प्रथम आह्निक त्रय), अनु० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास नई दिल्ली, 1962.
3. Rajarama, Pandit, Mahabhashya: Patañjali's great Commentary on the grammatical Sutras of panini, the Bavarian State Library, Trübner, 1872.
4. Kielhorn, F.,The Vyakarana-mahabhashya of Patanjali, Goverment Central Book Depot, Bombay, 1885.